जैन आचार दर्शन : एक मूल्यांकन

□ डॉ० सागरमल जैन
[दर्शन विभाग, हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)]

किसी भी आचार दर्शन का मानव-जीवन के सन्दर्भ में क्या मूल्य हो सकता है यह इस बात पर निर्भर है कि वह मानव-जीवन एवं मानव-समाज की समस्याओं का निराकरण करने में कहाँ तक समर्थ है और मानव-जीवन एवं मानव-समाज को उसका क्या सक्रिय योगदान है। जैन आचार दर्शन का मूल्यांकन करने के लिए हमें इस बात पर विचार करना होगा कि यह वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए कौन से सूत्र प्रस्तुत करता है और वे सूत्र समस्याओं के समाधान एवं मानवीय जीवन की प्रगति करने में कितने सक्षम हैं। साथ ही यह विचार भी आवश्यक है कि उसका वैयक्तिक एवं समाजिक जीवन पर क्या प्रभाव रहा है और उसने युग की सामाजिक समस्याओं का समाधान किस रूप में प्रस्तुत किया है।

सर्वप्रथम हम जैन दर्शन का मूल्यांकन करने के लिए इस सम्बन्ध में विचार करेंगे कि जैन दर्शन ने विशेषकर महावीर के युग की तत्कालीन समस्याओं का समाधान किस रूप में प्रस्तुत किया है और उस युग के सन्दर्भ में उसका क्या मूल्य हो सकता है।

महावीर के युग की आचार दर्शन सम्बन्धी समस्याएँ और जैन दृष्टिकोण

(अ) नैतिकता की विभिन्न धारणाओं का समन्वय : महावीर के युग के आचार दर्शन की सबसे प्रमुख समस्या यह थी कि उस युग में आचार दर्शन सम्बन्धी मान्यताएँ एकांगी दृष्टिकोण को ही पूर्ण सत्य समझकर परस्पर एक दूसरे के विरोध में खड़ी हुई थीं। महावीर ने सर्वप्रथम इन्हें समन्वय सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। उस युग में आचार दर्शन सम्बन्धी चार दृष्टिकोण चार विभिन्न तात्त्विक आधारों पर खड़े हुए थे। क्रियावादी दृष्टिकोण आचार के बाह्य पक्षों पर अधिक बल देता था। वह कर्मकाण्डपरक था और आचार के बाह्य नियमों को ही नैतिकता का सर्वस्व मानता था। बौद्ध परम्परा में नैतिकता की इस धारणा को शीलव्रतपरामर्श कहा गया है। क्रियावाद के विपरीत दूसरा दृष्टिकोण अक्रियावाद का था। अक्रियावाद के तात्त्विक आधार पर खड़े हुए विभिन्न नियतिवादी दृष्टिकोण आत्मा को कूटस्थ एवं अकर्ता मानते थे। जहाँ क्रियावाद के अनुसार कर्म या आचरण ही नैतिक जीवन का सर्वस्व था वहाँ अक्रियावाद के अनुसार ज्ञान ही नैतिकता का सर्वस्व माना गया था। क्रियावाद कर्ममार्ग का प्रतिपादक था और अक्रियावाद ज्ञानमार्ग का प्रतिपादक था। कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग के अतिरिक्त तीसरी परम्परा अज्ञानवादियों की थी जो अतीन्द्रिय एवं पारलौकिक मान्यताओं और उन पर आधारित नैतिक प्रत्ययों को 'अज्ञेय' स्वीकार करती थी। इसका नैतिक दर्शन रहस्यवाद और सन्देहवाद इन दो रूपों में विभाजित था। इन तीनों परम्पराओं के अतिरिक्त चौथी परम्परा विनयवाद की थी जिसे नैतिक जीवन के सन्दर्भ में भक्तिमार्ग का प्रतिपादक माना जाता था। विनयवाद भक्तिमार्ग का ही अपरनाम था। इस प्रकार उस युग में ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग और अज्ञेयमार्ग एवं सन्देहवाद की परम्पराएं अलग-अलग रूप में प्रतिष्ठित थीं। महावीर ने अपने अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के आधार पर इनमें एक समन्वय खोजने का प्रयास किया। सर्वप्रथम उन्होंने सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र के रूप में आचार दर्शन का एक ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमें ज्ञानवादी, कर्मवादी और भक्तिमार्गी परम्पराओं का समुचित समन्वय था। इस प्रकार महावीर एवं जैनदर्शन का प्रथम प्रयास आचार दर्शन के सम्बन्ध में विभिन्न एकांगी दृष्टिकोणों के मध्य समन्वय स्थापित करना था। यद्यपि यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन परम्परा सन्देहवाद को किसी भी अर्थ में स्वीकृत नहीं करती है।

(ब) नैतिकता के बहिर्मुखी एवं अन्तर्मुखी दृष्टिकोणों का समन्वय : जैन दर्शन ने न केवल ब्राह्मणवाद द्वारा प्रतिपादित यज्ञ-याग की परम्परा का विरोध किया वरन् श्रमण परम्परा के देह-खण्डन की तपस्यात्मक प्रणाली का भी विरोध किया। सम्भवतः महावीर के पूर्व तक नैतिकता का सम्बन्ध बाह्य तथ्यों से ही जोड़ा गया था, यही कारण था कि जहाँ ब्राह्मण वर्ग यज्ञ-याग के क्रिया-काण्डों में नैतिकता की इतिश्री मान लेता था, वहाँ श्रमण वर्ग भी विविध प्रकार के देह-खण्डन में ही नैतिकता की इतिश्री मान लेता था। सम्भवतः जैन परम्परा के महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ की नैतिक एवं आध्यात्मिक साधना के परिणामस्वरूप कुछ श्रमण परम्पराओं ने इस आन्तरिक पहलू पर अधिक बल देना प्रारम्भ कर दिया था लेकिन महावीर के युग तक नैतिकता एवं सधना का बाह्यमुखी दृष्टिकोण पूरी तरह समाप्त नहीं हो पाया था वरन् ब्राह्मण परम्परा में तो यज्ञ, श्राद्धादि के रूप में वह अधिक प्रसार पा गया था। दूसरी ओर जिन विचारकों ने नैतिकता के आन्तरिक पक्ष पर बल देना प्रारम्भ किया था, उन्होंने बाह्य पक्ष की पूरी तरह अवहेलना करना प्रारम्भ कर दिया था, परिणामस्वरूप वे भी एक दूसरी अति की ओर जाकर एकांगी बन गये थे। अतः महावीर ने दोनों ही पक्षों के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया और यह बताया कि नैतिकता का सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन से है, उसमें आचरण के बाह्य पक्ष के रूप में क्रिया का जो स्थान है उससे भी अधिक स्थान आचरण के आन्तरिक प्रेरक का है। इस प्रकार उन्होंने नैतिक जीवन में आचरण के प्रेरक और आचरण के परिणाम दोनों पर ही बल दिया।

मानव मात्र की समानता का उद्घोष

उस युग की सामाजिक समस्याओं में वर्ण व्यवस्था एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी। वर्ण का आधार, कर्म और स्वभाव को छोड़कर, जन्म मान लिया गया था, परिणामस्वरूप वर्ण व्यवस्था विकृत हो गई थी और उसके आधार पर ऊँच-नीच के भेदभाव खड़े हो गये थे जिसके कारण सामाजिक स्वास्थ्य विषमता के ज्वर से आक्रान्त था। जैन विचारणा ने जन्मना जातिवाद का विरोध किया और मानवों की समानता का उद्घोष किया। एक ओर उसने हरकेशबल जैसे निम्न कुलोत्पन्न को तो दूसरी ओर गौतम जैसे ब्राह्मण कुलोत्पन्न साधकों को अपने साधना मार्ग में समान रूप से दीक्षित किया। न केवल जातिगत विभेद वरन् आर्थिक विभेद भी साधना की दृष्टि से उसके सामने कोई मूल्य नहीं रखता है। जहाँ एक ओर मगध सम्राट श्रेणिक तो दूसरी ओर पुणिया जैसे निर्धन श्रावक उसकी दृष्टि में समान थे। इस प्रकार उसने जातिगत आधार पर ऊँच-नीच का भेद अस्वीकार कर मानव मात्र की समानता का उद्घोष किया।

ईश्वरवाद से मुक्ति और मानवीय स्वतन्त्रता में निष्ठा

उस युग की दूसरी समस्या यह थी कि मानवीय स्वतन्त्रता का मूल्य लोगों की दृष्टि में कम आँका जाने लगा था। एक ओर ईश्वरवादी धारणाएँ तो दूसरी ओर कालवादी एवं अन्य नियतिवादी धारणाएँ मानवीय स्वतन्त्रता को अस्वीकार करने लगी थी। जैन आचार दर्शन ने इस कठिनाई को समझा और मानव की स्वतन्त्रता की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा की। उसने यह उद्घोष किया कि न तो ईश्वर और न अन्य शक्तियाँ ही मानव की निर्धारक है, वरन् मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है। इस प्रकार उसने मनुष्य को ईश्वरवाद की उस धारणा से मुक्ति दिलाई जो मानवीय स्वतन्त्रता का अपहरण कर रही थी वस्तुतः मानवीय स्वतन्त्रता में निष्ठा ही नैतिक दर्शन का सच्चा आधार बन सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम्परागत रूढ़िवाद से मुक्ति

जैन आचार दर्शन ने परम्परागत रूढ़िवाद से भी मानव-जाति को मुक्त किया था। उसने उस युग की अनेक रूढ़ियों जैसे पशु-यज्ञ, श्राद्ध, पुरोहितवाद आदि से मानव-समाज को मुक्त करने का प्रयास किया था और इसलिए उसने इन सबका खुला विरोध भी किया। ब्राह्मण वर्ग ने अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि बताकर सामाजिक शोषण का जो कुचक्र प्रारम्भ किया था उसे समाप्त करने के लिए जैनधर्म एवं बौद्ध परम्पराओं ने खुला विद्रोह किया और मानव जाति को रूढ़िवाद के पंक से उबारने का प्रयास किया। यद्यपि हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन परम्परा ने इसका जो विरोध किया वह पूर्णतया अहिंसक था। जैन और बौद्ध आचार्यों ने अपने इस विरोध में जो सबसे महत्त्वपूर्ण काम किया, वह यह था कि अनेक प्रत्ययों की नई परिभाषाएँ की गईं। नीचे हम जैन दर्शन के द्वारा प्रस्तुत ब्राह्मण, यज्ञ आदि की कुछ नई परिभाषाएँ प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

ब्राह्मण का नया अर्थ

जैन परम्परा ने सदाचरण को ही मानवीय जीवन में उच्चता और निम्नता को प्रतिमान माना। उसने यह बताया कि ब्राह्मण की श्रेष्ठता हमें स्वीकार है, लेकिन उसके लिए ब्राह्मण की एक नई परिभाषा प्रस्तुत की जिसमें सदाचरण को ही ब्राह्मणत्व का आधार बताया। उत्तराध्ययन सूत्र के पच्चीसवें अध्ययन एवं धम्मपद के ब्राह्मण वर्ग नामक अध्याय में सच्चा ब्राह्मण कौन है इसका सविस्तार विवेचन उपलब्ध है। विस्तार भय से हम उसकी समग्र चर्चा में नहीं जाते हुए केवल एक दो पद्यों को प्रस्तुत कर ही विराम लेंगे। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि जो जल में उत्पन्न हुए कमल के समान भोगों के उपलब्ध होते हुए भी भोगों में लिप्त नहीं रहता, वही सच्चा ब्राह्मण है। जो राग, द्वेष और भय से मुक्त होकर अन्तर् में विशुद्ध है, वही सच्चा ब्राह्मण है।[1] धम्मपद में बुद्ध का कथन भी ऐसा ही है। वे कहते हैं कि जैसे कमलपत्र पर पानी होता है, जैसे आरे की नोक पर सरसों का दाना होता है—वैसे ही जो कामों में लिप्त नहीं होता, जिसने अपने दुःखों के क्षय को यहीं पर देख लिया है, जिसने (जन्ममरण के) भार को उतार दिया है, जो सर्वथा अनासक्त है, जो मेधावी है, स्थितप्रज्ञ है, जो सन्मार्ग तथा कुमार्ग को जानने में कुशल है और जो निर्वाण की उत्तम स्थिति को पहुँच चुका है—उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार दर्शन एवं बौद्ध परम्परा दोनों ने ही ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए भी ब्राह्मण की एक नई परिभाषा प्रस्तुत की जो कि श्रमणिक परम्परा के अनुकूल थी। न केवल जैन परम्परा एवं बौद्ध परम्परा में वरन् महाभारत में भी ब्राह्मणत्व की यही परिभाषा प्रस्तुत की गई। जैन परम्परा के उत्तराध्ययन सूत्र, बौद्ध परम्परा के धम्मपद और महाभारत के शान्तिपर्व में सच्चे ब्राह्मण के स्वरूप का जो विवरण हमें मिलता है वह न केवल वैचारिक साम्य रखता है वरन् उसमें शाब्दिक साम्य भी बहुत अधिक है जो कि तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

यज्ञ का नया अर्थ

जिस प्रकार इन आचार दर्शनों में ब्राह्मणत्व की नई परिभाषा प्रस्तुत की गई उसी प्रकार यज्ञ को भी एक नये अर्थ में परिभाषित किया गया। महावीर ने न केवल हिंसक यज्ञों के विरोध में अपने मन्तव्यों को प्रस्तुत किया वरन् उन्होंने यज्ञ की आध्यात्मिक एवं तपस्यापरक नई परिभाषा भी प्रस्तुत की है। उत्तराध्ययन सूत्र में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का सविस्तार विवेचन उपलब्ध है, जिसमें बताया गया है कि तप अग्नि है, जीवात्मा अग्निकुण्ड है, मन, वचन और काया की प्रवृत्तियाँ कल्छी (चम्मच) हैं और कर्मों (पापों) का नष्ट करना ही आहुति है, यही

---

१. उत्तरा० २५।२७, २१.

२. धम्मपद ४०१। ४०३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यज्ञ संयम से युक्त होने से शान्तिदायक और सुखकारक है। ऋषियों ने ऐसे ही यज्ञ की प्रशंसा की है।[1] न केवल जैन परम्परा में वरन् बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में भी यज्ञ-याग की बाह्य परम्परा का खण्डन और उसके आध्यात्मिक स्वरूप का चिन्तन उपलब्ध है। बुद्ध ने भी आध्यात्मिक यज्ञ के स्वरूप का चित्रण लगभग उसी रूप में किया है, जिस रूप में उसका विवेचन उत्तराध्ययन में किया गया है। अंगुतरनिकाय में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का चित्रण करते हुए बुद्ध कहते हैं कि "हे ब्राह्मण, ये तीन अग्नियाँ त्याग करने, परिवर्जन करने के योग्य हैं, इनका सेवन नहीं करना चाहिए। वे कौन-सी हैं? कामाग्नि, द्वेषाग्नि और मोहाग्नि। जो मनुष्य कामाभिभूत होता है वह काया-वाचा-मनसा कुकर्म करता है और उससे मरणोत्तर दुर्गति पाता है। इसी प्रकार द्वेष एवं मोह से अभिभूत भी काया-वाचा-मनसा कुकर्म करके दुर्गति को पाता है। इसलिए ये तीन अग्नियाँ त्याग करने और परिवर्जन के लिए योग्य हैं, उनका सेवन नहीं करना चाहिए।" "हे ब्राह्मण इन तीन अग्नियों का सत्कार करें, इन्हें सम्मान प्रदान करें, इनकी पूजा और परिचर्या भली भाँति, सुख से करें। ये अग्नियाँ कौन सी हैं? आह्वनीयाग्नि (आहुनेय्यग्गि), गार्हपत्याग्नि (गहपतग्गि) और दक्षिणाग्नि (दक्खिणय्यग्गि)। माँ-बाप को आह्वनीयाग्नि समझना चाहिए और बड़े सत्कार से उनकी पूजा करनी चाहिए। पत्नी और बच्चे, दास तथा कर्मकार को गार्हपत्याग्नि समझने चाहिए और आदरपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिए। हे ब्राह्मण! यह लकड़ियों की अग्नि तो कभी जलानी पड़ती है, कभी उसकी उपेक्षा करनी पड़ती है और कभी उसे बुझानी पड़ती है।[2] इस प्रकार बुद्ध ने भी हिंसक यज्ञों के स्थान पर यज्ञ के आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्वरूप को प्रकट किया। मात्र इतना ही नहीं उन्होंने सच्चे यज्ञ का अर्थ सामाजिक जीवन से बेकारी का नाश करना बताया।[3] न केवल जैन एवं बौद्ध परम्परा में वरन् गीता में यज्ञ-याग की निन्दा की गई और यज्ञ के सम्बन्ध में उसने भी सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचना की। सामाजिक सन्दर्भ में गीता में यज्ञ का अर्थ समाज-सेवा माना गया है। निष्कामभाव से समाज-सेवा करना यह गीता में यज्ञ का सामाजिक पहलू था। दूसरी ओर गीता में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का विवेचन भी किया गया है। गीताकार कहता है—कि योगीजन संयम रूप अग्नि में श्रोतादि इन्द्रियों का हवन करते हैं या इन्द्रियों के विषयों का इन्द्रियों में हवन करते हैं। दूसरे कुछ साधक इन्द्रियों के सम्पूर्ण कर्मों को और शरीर के भीतर रहने वाला वायु जो प्राण कहलाता है, उसके संकुचित होने 'फैलने' आदि कर्मों को, ज्ञान से प्रकाशित हुई आत्मसंयम रूप योगाग्नि में हवन करते हैं। आत्मविषयक संयम का नाम आत्म-संयम है, वही यहाँ योगाग्नि है। घृतादि से प्रज्वलित हुई अग्नि की भाँति विवेक विज्ञान से उज्ज्वलता को प्राप्त हुई (धारणा-ध्यान-समाधिरूप) उस आत्म-संयम-योगाग्नि में (वे प्राण और इन्द्रियों के कर्मों को) विलीन कर देते हैं।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार दर्शन में यज्ञ के जिस आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया उसका अनुमोदन बौद्ध परम्परा और गीता में भी उपलब्ध है।

तत्कालीन अन्य नैतिकता सम्बन्धी विचारों के प्रति नया दृष्टिकोण

जैन विचारकों ने अन्य दूसरे नैतिकता सम्बन्धी विचारों को भी नई दृष्टि प्रदान की बाह्य शौच या स्नान को, जो कि उस समय कर्मकाण्ड और नैतिक जीवन का एक मुख्य रूप मान लिया गया था, एक नया आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि धर्म जलाशय है और ब्रह्मचर्य घाट (तीर्थ) है उसमें स्नान करने से आत्मा शान्त निर्मल और शुद्ध हो जाती है।[5] इसी प्रकार बौद्ध दर्शन में भी सच्चे स्नान का अर्थ

---

१. उत्तरा० १२।४४.

२. अंगुत्तरनिकाय-सुत्तनिपात—उद्धृत भगवान् बुद्ध, पृ० २६.

३. देखिए—भगवान् बुद्ध २३६-२३९.

४. गीता, ४।३३, २५-२८.

५. उत्तरा० १२।४६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन, वाणी और कर्म से सद्गुणों का सम्पादन माना गया है। न केवल जैन और बौद्ध परम्पराओं में वरन् वैदिक परम्परा में भी यह विचार प्रबल हो गया था कि सच्ची शुद्धि आत्मा में सद्गुणों के विकास में निहित है।

इसी प्रकार ब्राह्मणों को दी जाने वाली दक्षिणा के प्रति भी एक नई दृष्टि प्रदान की गई और यह बताया गया कि दान की अपेक्षा संयम ही श्रेष्ठ है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि जो प्रतिमाह सहस्रों का दान करने की अपेक्षा जो बाह्य रूप से दान नहीं करता वरन् संयम का पालन करता है, उस व्यक्ति का संयम ही अधिक श्रेष्ठ है।[1] इसी प्रकार धम्मपद में भी कहा गया है कि एक तरफ मनुष्य यदि सौ वर्षों तक हजारों को दक्षिणा देकर प्रतिमास यज्ञ करता जाए और दूसरी तरफ यदि वह पुण्यात्मा की क्षण भर भी सेवा करे, तो यह सेवा कहीं उत्तम है, न कि सौ वर्षों तक किया हुआ यज्ञ।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध आचार दर्शनों ने तत्कालीन नैतिक मान्यताओं को एक नई दृष्टि और आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया। साथ ही नैतिकता के सम्बन्ध में जो बहिर्मुखी दृष्टिकोण था उसे आध्यात्मिक संस्पर्श देकर अन्तर्मुखी बनाया। इन आचार दर्शनों ने उस युग के नैतिक चिन्तन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। लेकिन मात्र इतना ही नहीं कि उन्होंने अपने युग की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया था वरन् इन आचार दर्शनों में वर्तमान युग की समस्याओं के समाधान की शक्ति भी है। अतः यह विचार अपेक्षित है कि युगीन परिस्थितियों में समालोच्य आचार दर्शनों का और विशेष रूप से जैन दर्शन का क्या स्थान हो सकता है, इस पर विचार कर लिया जाय।

युगीन परिस्थितियों में जैन आचार दर्शन का मूल्यांकन

जैन आचार दर्शन ने न केवल अपने युग की समस्याओं का समाधान किया है वरन् वह वर्तमान युग की समस्याओं के समाधान में भी पूर्णतया सक्षम है। वस्तुस्थिति यह है कि चाहे वह प्राचीन युग हो या वर्तमान युग, मानव-जीवन की समस्याएँ सभी युगों में लगभग समान रही हैं। मानव-जीवन की समग्र समस्याएँ विषमताजनित ही हैं। **वस्तुतः विषमता ही समस्या है और समता ही समाधान है।** ये विषमताएँ निम्न हैं—१. सामाजिक वैषम्य, २. आर्थिक वैषम्य, ३. वैचारिक वैषम्य, ४. मानसिक वैषम्य। अब हमें विचार यह करना है कि क्या जैन आचार दर्शन इन विषमताओं का निराकरण कर समत्व का संस्थापन करने में समर्थ है? नीचे हम प्रत्येक प्रकार की विषमताओं के कारणों का विश्लेषण और जैन दर्शन द्वारा प्रस्तुत उनके समाधानों पर विचार करेंगे।

१. सामाजिक विषमता

चेतन जगत् के अन्य प्राणियों के साथ जीवन जीना होता है। यह सामुदायिक जीवन है। सामुदायिक जीवन का आधार सम्बन्ध है और नैतिकता उन सम्बन्धों की शुद्धि का विज्ञान है। पारस्परिक सम्बन्ध निम्न प्रकार के हैं—(१) व्यक्ति और परिवार, (२) व्यक्ति और जाति, (३) व्यक्ति और समाज, (४) व्यक्ति और राष्ट्र, और (५) व्यक्ति और विश्व। इन सम्बन्धों की विषमता के मूल में व्यक्ति की राग-भावना ही काम करती है। सामान्यतया राग द्वेष का सहगामी होता है। जब तक सम्बन्ध राग द्वेष के आधार पर खड़ा होता है तब तक इन सम्बन्धों में विषमता स्वाभाविक रूप से उपस्थित रहती है। जब राग का तत्त्व द्वेष का सहगामी होकर काम करने लगता है तो पारस्परिक सम्बन्धों में संघर्ष और टकराहट प्रारम्भ हो जाती है। राग के कारण मेरा या ममत्व का भाव उत्पन्न होता है। मेरे सम्बन्धी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ये विचार विकसित होते हैं। परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज के हमारे सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में ये ही तत्त्व सबसे अधिक बाधक हैं। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठने नहीं देते हैं। यही

१. उत्तरा० ९।४०.
२. धम्मपद १०६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज की सामजिक विषमता के मूल कारण हैं। अनैतिकता का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा है, व्यक्ति जिसे अपना मानता है उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर-व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किये जाते हैं जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। यद्यपि यह बड़ा कठिन कार्य है कि हम अपनी रागात्मकता या ममत्व वृत्ति का पूर्णतया विसर्जन कर सकें। लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि उसका एक सीमा तक विसर्जन किए बिना अपेक्षित नैतिक जीवन का विकास नहीं हो सकता। व्यक्ति का 'स्व' चाहे वह व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो हमें स्वार्थ-भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वार्थ वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति समान रूप से नैतिकता की विरोधी ही सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा नैतिक जीवन फलित नहीं हो सकता। मुनि नथमलजी लिखते हैं परिवार के प्रति ममत्व का सघन रूप जैसे जाति या राष्ट्र के प्रति बरती जाने वाली अनैतिकता का नियमन नहीं करता वैसे ही (जाति या राष्ट्र के प्रति ममत्व) राष्ट्र के प्रति बरती जाने वाली अनैतिकता का नियामक नहीं होता। मुझे लगता है कि राष्ट्रीय अनैतिकता की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय अनैतिकता कहीं अधिक है। जिन राष्ट्रों में व्यावहारिक सचाई है, प्रामाणिकता हैं, वे भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सत्यनिष्ठ और प्रामाणिक नहीं हैं।[1] इस प्रकार हम देखते कि व्यक्ति का जीवन जब तक राग या ममत्व से ऊपर नहीं उठता तब तक नैतिकता का सद्भाव सम्भव ही नहीं होता। रागयुक्त नैतिकता, चाहे उसका आधार राष्ट्र अथवा मानव जाति ही क्यों न हो सच्चे अर्थों में नैतिकता नहीं हो सकती। सच्चा नैतिक जीवन वीतराग अवस्था में ही सम्भव हो सकता है और जैन आचार दर्शन इसी वीतराग जीवन-दृष्टि को ही अपनी नैतिक साधना का आधार बनाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह नैतिक जीवन का एक वास्तविक आधार प्रस्तुत करता है। यही एक ऐसा आधार है जिस पर नैतिकता को खड़ा किया आ सकता है और सामाजिक जीवन के वैषम्यों को समाप्त किया जा सकता है।

दूसरे इस सामाजिक सम्बन्ध में व्यक्ति का अहम् भाव ही बहुत महत्त्वपूर्ण रूप से कार्य करता है। शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके प्रमुख तत्त्व हैं, इनके कारण भी सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न होती है। शासक और शासित अथवा जातिभेद एवं रंगभेद आदि की श्रेष्ठता के मूल में अहं ही प्रधान है। राष्ट्रीयता के मूल में भी अपने राष्ट्रीय अहम् की पुष्टि का प्रयत्न है। स्वतन्त्रता के अपहार का प्रश्न इसी स्थिति में होता है। जब व्यक्ति में आधिपत्य की वृत्ति या शासन की भावना होती है तो वह दूसरों के अधिकारों का हनन करता है। जैन आचार दर्शन अहम् के प्रत्यय के विगलन के द्वारा सामाजिक जीवन में परतन्त्रता को समाप्त करता है। दूसरी ओर जैन दर्शन का अहिंसा सिद्धान्त भी सभी प्राणियों के समान अधिकार को स्वीकार करता है। अधिकारों का हनन एक प्रकार की हिंसा है। अतः अहिंसा का सिद्धान्त स्वतन्त्रता के साथ जुड़ा हुआ है। जैन एवं बौद्ध आचार दर्शन इसी अहिंसा सिद्धान्त के आधार पर स्वतन्त्रता का समर्थन करते हैं।

यदि हम सामाजिक सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाली विषमता के कारणों का विश्लेषण करें तो यह पाते हैं कि उसके मूल में रागात्मकता ही है। यही राग जब 'पर' केन्द्रित होता है तो अपने और पराये के भेद उत्पन्न कर सामाजिक सम्बन्धों को अशुद्ध बनाता है। दूसरी ओर यही राग जब 'स्व' केन्द्रित होता है तो अहम् या मान का प्रत्यय उत्पन्न करता है। जिसके कारण सामाजिक जीवन में ऊँच-नीच की भावनाओं का निर्माण होता है। इस प्रकार राग का तत्त्व ही मान के रूप में एक दूसरी दिशा ग्रहण कर लेता है जो भी सामाजिक विषमता को उत्पन्न करती है। राग की वृत्ति ही संग्रह (लोभ) और कपट की भावनाओं को विकसित करती है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में विषमता के उत्पन्न होने के चार मूलभूत कारण होते हैं (१) संग्रह, (१) आवेश, (३) गर्व, (बड़ा मानना) और (४) माया (छिपाना)। जिन्हें चार कषाय कहा जाता है। यही चारों कारण अलग-अलग रूप में सामाजिक जीवन में विषमता,

१. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० ३-४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संघर्ष एवं अशान्ति के कारण बनते हैं। १. संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रामाणिकता, निरपेक्ष-व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात आदि विकसित होते हैं। २. आवेश की मनोवृत्ति के कारण संघर्ष, युद्ध, आक्रमण एवं हत्याएँ आदि होती हैं। ३. गर्व की मनोवृत्ति के कारण घृणा, मैत्रीपूर्ण व्यवहार और क्रूर-व्यवहार होता है। इसी प्रकार माया की मनोवृत्ति के कारण अविश्वास एवं अमैत्रीपूर्ण व्यवहार उत्पन्न होता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में जिन्हें चार कषाय कहा जाता है उन्हीं के कारण सारा सामाजिक जीवन दूषित होता है। जैन दर्शन इन्हीं कषायों के निरोध को अपनी नैतिक साधना का आधार बनाता है अतः यह कहना उचित ही होगा कि जैन दर्शन अपने साधना-मार्ग के रूप में सामाजिक विषमताओं को समाप्त कर सामाजिक समत्व की स्थापना का प्रयत्न करता है।

२. आर्थिक वैषम्य

आर्थिक वैषम्य व्यक्ति और भौतिक जगत् के सम्बन्धों से उत्पन्न हुई विषमता है। चेतना का जब भौतिक जगत् से सम्बन्ध होता है तो उसे अनेक वस्तुएँ अपने प्राणमय जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। यही आवश्यकता जब आसक्ति में बदल जाती है तो एक ओर संग्रह होता जाता है, दूसरी ओर संग्रह की लालसा बढ़ती जाती है; इसी से सामाजिक जीवन में आर्थिक विषमता के बीच का वपन होता। जैसे-जैसे एक ओर संग्रह बढ़ता है, दूसरी ओर गरीबी बढ़ती है और परिणामस्वरूप आर्थिक वैषम्य बढ़ता जाता है। आर्थिक वैषम्य के मूल में संग्रह भावना ही अधिक है। कहा यह जाता है कि अभाव के कारण संग्रह की चाह उत्पन्न होती है, लेकिन वस्तुस्थिति कुछ और ही है। स्वाभाविक अभाव की पूर्ति सम्भव है और शायद विज्ञान हमें इस दिशा में सहयोग भी दे सकता है लेकिन कृत्रिम अभाव की पूर्ति सम्भव नहीं। उपाध्याय अमरमुनि जी लिखते हैं कि "गरीबी स्वयं में कोई बहुत बड़ी चीज नहीं, किन्तु पहाड़ों की असीम ऊँचाइयों ने इस धरती पर जगह-जगह गड्ढे पैदा कर दिये हैं। पहाड़ टूटेंगे, तो गड्ढे अपने आप भर जायेंगे, सम्पत्ति का विसर्जन होगा तो गरीबी अपने आप दूर हो जाएगी।"[2] वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति में परिग्रह के विसर्जन की भावना उद्भूत हो। परिग्रह के विसर्जन से ही आर्थिक वैषम्य समाप्त किया जा सकता है। जब तक संग्रह की वृत्ति समाप्त नहीं होती, आर्थिक समता नहीं आ सकती है।

आर्थिक वैषम्य का निराकरण असंग्रह की वृत्ति से ही सम्भव है और जैन दर्शन अपने अपरिग्रह के सिद्धान्त के द्वारा इस आर्थिक वैषम्य के निराकरण का प्रयास करता है। जैन आचार दर्शन में गृहस्थ जीवन के लिए भी जिस परिग्रह के सीमांकन का विधान किया गया है वह आर्थिक वैषम्य के निराकरण का एक प्रमुख साधन हो सकता है। आज हम जिस समाजवाद एवं साम्यवाद की चर्चा करते हैं उसका दिशा-संकेत महावीर ने गृहस्थ की व्रत व्यवस्था में किया था।

आर्थिक वैषम्य का निराकरण अनासक्ति और अपरिग्रह की साधना के द्वारा ही सम्भव है। यदि हम सामाजिक जीवन में आर्थिक समानता की बात करना चाहते हैं तो हमें व्यक्तिगत सम्पत्ति की सीमा निर्धारण करनी ही होगी। परिग्रह का विसर्जन ही आर्थिक जीवन में महत्व का सृजन कर सकता है। जैन दर्शन का अपरिग्रह सिद्धान्त इस सम्बन्ध में पर्याप्त सिद्ध होता है। वर्तमान युग में मार्क्स ने आर्थिक वैषम्य को दूर करने का जो सिद्धान्त साम्यवादी समाज के रचना के रूप में प्रस्तुत किया वह यद्यपि आर्थिक विषमताओं के निराकरण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है लेकिन उसकी मूलभूत कमी यह है कि वह मानव-समाज पर ऊपर से थोपा जाता है उसके अन्दर से सहज उभारा नहीं जाता है। जिस प्रकार बाह्य दबावों से वास्तविक नैतिकता प्रकट नहीं होती उसी प्रकार केवल कानून के बल पर लाया गया आर्थिक साम्य सच्चे आर्थिक समत्व का प्रकटन नहीं करता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि

---

१. देखिए—नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० २.

२. जैन प्रकाश, ८ अप्रेल, १९६९, पृ० ११.

मनुष्य में स्वतः ही त्याग की वृत्ति का उदय हो और वह स्वेच्छा से ही सम्पत्ति के विसर्जन की दिशा में आगे आवे। भारतीय परम्परा और विशेषकर जैन परम्परा न केवल सम्पत्ति के विसर्जन की बात करती है वरन् उसके समवितरण पर भी जोर देती है। हमारे प्राचीन साहित्य में दान के स्थान पर संविभाग शब्द का ही अधिक प्रयोग हुआ है। जो यह बताता है कि जो कुछ हमारे पास है उसका समविभाजन करना है। महावीर का यह उद्घोष कि 'असंविभागी न हु तस्स मोक्ख' यह स्पष्ट बताता है कि जैन आचार दर्शन आर्थिक विषमता के निराकरण के लिए समवितरण की धारणा को प्रतिपादित करता है। जैनदर्शन के इन सिद्धान्तों को यदि युगीन सन्दर्भों में नवीन दृष्टि से उपस्थित किया जाय तो समाज की आर्थिक समस्याओं का निराकरण खोजा जा सकता है।

वर्तमान युग में भ्रष्टाचार के रूप में समाज में आर्थिक क्षेत्र में जो बुराई पनप रही है उसके मूल में भी या तो व्यक्ति की संग्रहेच्छा है या भोगेच्छा। भ्रष्टाचार केवल अभावजनित बीमारी नहीं है वरन् वह एक मानसिक बीमारी है जिसके मूल में संग्रहेच्छा एवं भोगेच्छा के कीटाणु रहे हुए हैं। वस्तुतः वह आवश्यकताओं के कारण नहीं वरन् तृष्णा के कारण उत्पन्न होती है। आवश्यकताओं का निराकरण पदार्थों को उपलब्ध करके किया जा सकता है, लेकिन इस तृष्णा का निराकरण पदार्थों के द्वारा सम्भव नहीं है। इसीलिए जैनदर्शन ने अनासक्ति की वृत्ति को नैतिक जीवन में प्रमुख स्थान दिया है। तृष्णाजनित विकृतियाँ केवल अनासक्ति के द्वारा ही दूर की जा सकती हैं। हमारे वर्तमान युग की प्रमुख कठिनाई यह नहीं है कि हमें सामान्य जीवन जीने के साधन उपलब्ध नहीं है अथवा उनका अभाव है, वरन् कठिनाई यह है कि आज का मानव तृष्णा से इतना अधिक ग्रसित है कि वह एक अच्छा सुखद एवं शान्तिपूर्ण जीवन नहीं जी सकता है। मनुष्य की वासनाएँ ही उसके शान्त जीवन जीने में बाधक हैं।

३. वैचारिक वैषम्य

विभिन्न वाद और उनके कारण उत्पन्न वैचारिक विषमता सामाजिक जीवन का एक बड़ा अभिशाप है। वर्तमान युग में राष्ट्रों का जो संघर्ष है उसके मूल में आर्थिक और राजनैतिक प्रश्न इतने महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि वैचारिक साम्राज्यवाद की स्थापना। वर्तमान युग में न तो राजनैतिक अधिकारलिप्सा से उत्पन्न साम्राज्यवाद की भावना पाई जाती है और न आर्थिक साम्राज्यों की स्थापना का प्रश्न ही इतना महत्त्वपूर्ण है, वरन् वर्तमान युग में बड़े राष्ट्र अपने वैचारिक साम्राज्यों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील देखे जाते हैं। जैन आचार दर्शन अपने अनेकान्तवाद और अनाग्रह के सिद्धान्त के आधार पर इस वैचारिक विषमता का निराकरण प्रस्तुत करता है। अनेकान्त का सिद्धान्त वैचारिक आग्रह के विसर्जन की बात करता है और वैचारिक क्षेत्र में दूसरे के विचारों एवं अनुभूतियों को भी उतना ही महत्व देता है जितना कि स्वयं के विचारों एवं अनुभूतियों को।

उपरोक्त तीनों प्रकार की विषमताएँ हमारे सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं। जैन आचार दर्शन उपरोक्त तीनों विषमताओं के निराकरण के लिए अपने आचार दर्शन में तीन सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। सामाजिक वैषम्य के निराकरण के लिए उसने 'अहिंसा' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। आर्थिक वैषम्य के निराकरण के लिए 'अपरिग्रह' का सिद्धान्त तथा वैचारिक वैषम्य के निराकरण के लिए 'अनाग्रह' और 'अनेकान्त' के सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं, जो क्रमशः सामाजिक समता, आर्थिक समता और वैचारिक समता की स्थापना करते हैं। लेकिन यह सभी नैतिकता के बाह्य एवं सामाजिक आधार हैं। नैतिकता का आन्तरिक आधार तो हमारा मनोजगत ही है। जैन आचार दर्शन मानसिक विषमता अर्थात् मानसिक तनाव के निराकरण के लिए विशेष रूप के विचार करता है।

४. मानसिक वैषम्य

मानसिक वैषम्य मनोजगत में तनाव की अवस्था का सूचक है। जैन आचार दर्शन ने चतुर्विध कषायों को मनोजगत के वैषम्य का मूल कारण माना है। क्रोध, मान, माया और लोभ यह चारों आवेग या कषाय हमारे मानसिक समत्व को भंग करते हैं। यदि हम व्यक्तिगत जीवन के विघटनकारी तत्त्वों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से विश्लेषण करें तो हम उनके मूल में कहीं न कहीं जैन दर्शन में प्रस्तुत कषायों एवं नोकषायों (आवेगों और उप-आवेगों) की उपस्थिति ही पाते हैं। जैन आचार दर्शन कषाय-त्याग के रूप में मनोजगत के वैषम्य के निराकरण का सन्देश देता है। वह बताता है कि हम जैसे-जैसे इन कषायों के ऊपर विजय-लाभ करते हुए आगे बढ़ेंगे वैसे ही हमारे व्यक्तित्व की पूर्णता का प्रकटन भी होवेगा। जैन दर्शन में साधकों की चार श्रेणियाँ मानी गई हैं। जो इन पर क्रमिक विजय को प्रकट करती हैं। इनके प्रथम तीव्रतम रूप पर विजय पाने पर साधक में यथार्थ दृष्टिकोण का उद्भव होता है। द्वितीय मध्यम रूप पर विजय प्राप्त करने से साधक श्रावक या गृहस्थ उपासक की श्रेणी में आता है। तृतीय अल्प रूप पर वह आत्मपूर्णता को प्रकट कर श्रामण्य को प्राप्त कर लेता है। कषायों की पूर्ण समाप्ति पर एक पूर्ण वीतराग व्यक्तित्व का प्रकटन हो जाता है। इस प्रकार जैन आचार दर्शन कषाय के रूप में हमारी मानसिक विषमताओं का कारण प्रस्तुत करता है और कषायजय के रूप में मानसिक समता के निर्माण की धारणा को स्थापित करता है।

प्रत्येक व्यक्ति यह अपेक्षा करता है कि उसका जीवन शान्त एवं सुखी हो। लेकिन यदि हम मानव-मन की अशान्ति और दुःख के कारणों को जानना चाहें तो हम यह पाते हैं कि उनके मूल में हमारे मानसिक तनाव या मनोवेग ही हैं। मानव-मन की अशान्ति एवं उसके अधिकांश दुःख कषायजनित हैं। अतः शान्त और सुखी जीवन के लिए मानसिक तनावों एवं मनोवेगों से मुक्ति पाना आवश्यक है। क्रोधादि कषायों पर विजय-लाभ करके ही हम शान्त मानसिक जीवन जी सकते हैं। अतः मानसिक वैषम्य के निराकरण और मानसिक समत्व के सृजन के लिए हमें मनोवेगों से ऊपर उठना होगा। जैसे-जैसे हम मनोवेगों या कषायचतुष्क से ऊपर उठेंगे वैसे-वैसे ही सच्ची शान्ति का लाभ प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार दर्शन जीवन से विषमताओं के निराकरण और समत्व के सृजन के लिए एक ऐसी आचार विधि प्रस्तुत करता है जिसके सम्यक् परिपालन से सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही जीवन में सच्ची शान्ति और वास्तविक सुख का लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

वैषम्य निराकरण के सूत्र

विषमताएँ	विषमताओं के निराकरण के सिद्धान्त	निराकरण का परिणाम	पुरुषार्थ चतुष्टय से सम्बन्ध
१	२	३	४
१. आर्थिक वैषम्य	अपरिग्रह (परिग्रह का परिसीमन)	साम्यवाद (समवितरण)	अर्थपुरुषार्थ
२. सामाजिक वैषम्य	अहिंसा	शान्ति एवं अभय (युद्ध-संघर्ष समाप्ति)	धर्म (नैतिकता) पुरुषार्थ
३. वैचारिक वैषम्य	अनाग्रह (अनेकान्त)	समाधि (वैचारिक समन्वय)	धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ का समन्वय
४. मानसिक वैषम्य	अनासक्ति	आनन्द-वीतरागावस्था	मोक्ष पुरुषार्थ

इन निराकरण के सूत्रों के मूल्यों और उनके परिणामों का विस्तृत विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। संक्षेप में जैन आचार दर्शन द्वारा प्रस्तुत उपरोक्त वैषम्य निराकरण के सभी सूत्र सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में समत्व, शान्ति एवं सन्तुलन को स्थापित कर व्यक्ति को दुःखों एवं विषमताओं से मुक्त करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान युग में नैतिकता की जीवन दृष्टि क्या हो ?

यदि हम इन वैषम्यों के कारणों एवं उनके निराकरण के सूत्रों का विश्लेषण करें तो अन्त में यह पाते हैं कि इन सब के मूल में मानसिक वैषम्य है। मानसिक वैषम्य आसक्तिजन्य है। वह आसक्ति का ही दूसरा नाम है। वैयक्तिक जीवन में आसक्ति के एक रूप, जिसे दृष्टि-राग कहा जाता है, से ही साम्प्रदायिकता, धर्मान्धिता और विभिन्न राजनैतिक मतवादों एवं आर्थिक विचारणों का जन्म होता है, जो हमारे सामाजिक जीवन में वर्गभेद एवं संघर्ष का सृजन करते हैं आसक्ति के दूसरे रूप संग्रहवृत्ति और विषयासक्ति से असमान वितरण और भोगवाद का जन्म होता है जिसमें वैयक्तिक एवं सामाजिक विषमताओं और सामाजिक अस्वास्थ्य (रोग) के कीटाणु जन्म लेते हैं और उसी में पलते हैं।

वर्तमान युग के अनेक विचारकों ने आसक्ति के स्थान पर अभाव को ही समग्र वैषम्यों का कारण माना और उसकी भौतिक पूर्ति के प्रयास को ही वैयक्तिक एवं सामाजिक वैषम्य के निराकरण का आवश्यक साधन माना। लेकिन इसमें आंशिक सत्य होते हुए भी इसे नैतिक जीवन का अन्तिम सत्य उद्घोषित नहीं किया जा सकता है। मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बल पर नहीं जी सकता है। क्राइस्ट ने ठीक ही कहा था कि मनुष्य के लिए केवल रोटी पर्याप्त नहीं है इसका यह अर्थ नहीं है कि वे बिना रोटी के जी सकते हैं। रोटी के बिना तो नहीं जी सकते लेकिन अकेली रोटी से भी नहीं जी सकते हैं। रोटी के बिना जीना असम्भव है और अकेली रोटी पर या रोटी के लिए जीना व्यर्थ है। जैसे पौधों के लिए जड़ें होती हैं, ऐसे ही मनुष्य के लिए रोटी या भौतिक वस्तुएँ हैं। जड़ें अपने आपके लिए नहीं है। फूलों और फलों के लिए वे हैं। फूल और फल न आवें तो उनका होना निरर्थक है। यद्यपि फूल और फल उनके बिना नहीं आ सकते हैं तब भी फूल और फल उनके लिए नहीं है। जीवन में निम्न आवश्यक हैं उच्च के लिए और उच्च के होने में ही वह सार्थक है। मनुष्य को रोटी या भौतिक वस्तुओं की जरूरत है ताकि वह जी सके और जीवन के सत्य और सौन्दर्य की भूख को भी तृप्त कर सके। रोटी, रोटी से भी बड़ी भूखों के लिए आवश्यक है। लेकिन यदि कोई बड़ी भूख नहीं है तो रोटी व्यर्थ हो जाती है। रोटी, रोटी के ही लिए नहीं है। अपने आप में उसका कोई भी मूल्य और अर्थ नहीं है। उसका अर्थ है उसके अतिक्रमण में। कोई जीवन मूल्य जो कि उसके पार निकल जाता है, उसमें ही उसका अर्थ है ?[1]

वस्तुतः हमने भौतिक मूल्यों की पूर्ति को ही अन्तिम मानकर बहुत बड़ी गलती की है। भौतिक पूर्ति अन्तिम नहीं है। यदि वही अन्तिम होती तो आज मनुष्य में उच्च मूल्यों का विकास पहले की अपेक्षा अधिक होना था क्योंकि वर्तमान युग में हमारी भौतिक सुख-सुविधाएँ पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ी हैं लेकिन फिर भी उच्च मूल्यों का विकास उतना नहीं हो पाया है। आर्थिक विकास और व्यवस्था होने पर भी आज का सम्पन्न मनुष्य उतना ही अर्थ-लोलुप है जितना पहले था। वैज्ञानिक विकास अपने चरम शिखर पर है, फिर भी आज का विज्ञानजीवी मनुष्य उतना ही आक्रामक है, जितना पहले था। शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा होने पर भी आज का शिक्षित मनुष्य उतना ही स्वार्थी है, जितना पहले था। आर्थिक, वैज्ञानिक और शैक्षणिक विकास ने मनुष्य के व्यवहार को बदला है, पर उसी को बदला है, जो उनसे सम्बन्धित है। मनुष्य में ऐसी अनेक मूलप्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें ये नहीं बदल सकते हैं। क्रोध, अभिमान, कपट, लोभ, भय, शोक, घृणा, काम-वासना, कलह—ये मनुष्य की शाश्वत मूलप्रवृत्तियाँ हैं। आर्थिक अभाव तथा अज्ञान के कारण जो सामाजिक दोष उत्पन्न होते हैं, वे आर्थिक और शैक्षणिक विकास से मिट जाते हैं किन्तु मूलप्रवृत्तियों से उत्पन्न होने वाले दोष उनसे नहीं मिटते हैं। मूलप्रवृत्तियों का नियन्त्रण या शोधन आध्यात्मिकता से ही हो सकता है, इसलिए समाज में उसका अस्तित्व अनिवार्य है।[2]

जो विचारक यह मानते हैं कि आधुनिक विज्ञान की सहायता से मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति

१. नये संकेत, पृ० ५७.

२ नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० २५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर दी जायगी और इस प्रकार इस संसार में एक स्वर्ग का अवतरण हो सकेगा, वे वस्तुतः भ्रान्ति में ही हैं। वस्तुत: मनुष्य के लिए जिस आनन्द और शान्तिमय जीवन की अपेक्षा है वह मात्र भोगों की पूर्ति में विकसित नहीं हो सकता है। यह आज भी सत्य है, कि अनेक लोग जिन्हें सन्तुष्टि के अल्प साधन उपलब्ध हैं, अधिक आनन्दित हैं, अपेक्षाकृत उनके जो भौतिक सुख-सुविधाओं की पूर्ति के होते हुए भी उतने आनन्दित नहीं हैं।[1] आज के संसार में संयुक्त राज्य अमेरिका जैसा राष्ट्र जो कि भौतिक सुख-सुविधाओं की दृष्टि से सम्पन्न होते हुए भी आज उसके नागरिक मानसिक तनावों से सर्वाधिक पीड़ित हैं। आज का मानव जिस संघर्ष की भयावह एवं तनावपूर्ण स्थिति में है उसका कारण साधनों का अभाव नहीं वरन् उपयोग की योग्यता एवं मनोवृत्ति है। यह सत्य है कि वैज्ञानिक उपलब्धियाँ मनुष्य को सुख और सुविधाएँ प्रदान कर सकती हैं, लेकिन यह इसी बात पर निर्भर है कि मनुष्य की जीवन-दृष्टि क्या है? विज्ञान में मानव को जहाँ एक ओर सुखी और सम्पन्न करने की क्षमता है वहीं दूसरी ओर वह उसका विनाश भी कर सकता है। यह तो उसके उपयोग करने वालों पर निर्भर है कि वे कैसा उपयोग करते हैं और यह बात उनकी जीवन-दृष्टि पर ही आधारित होगी। विज्ञान आध्यात्मिक एवं उच्च मानवीय मूल्यों से समन्वित होकर ही मनुष्य का कल्याण-साधक हो सकता है अन्यथा वह उसका संहारक ही सिद्ध होगा। अतः आज आवश्यक यह है कि मनुष्य में आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि एवं उच्च मूल्यों के प्रति निष्ठा जाग्रत की जाय।

आज मान्यता यह हो रही है कि नैतिक एवं उच्च मूल्यों के प्रति निष्ठा रखने वाला मनुष्य सुख-सुविधा की दृष्टि से घाटे में रहता है, इसीलिए नैतिकता एवं आध्यात्मिक जीवन के प्रति मनुष्य में सहज आकर्षण नहीं है। जीवन की आवश्यकताएँ जितनी अधिक होती हैं, उतनी ही सामाजिक उन्नति होती है, इस मान्यता ने समाज में भोग की स्पर्धा खड़ी कर दी है। अब कोई भी व्यक्ति इस दौड़ में पीछे रहना नहीं चाहता। हम भ्रष्टाचार करने वाले को दोष देते हैं, पर कितना आश्चर्य है कि भ्रष्टाचार की प्रेरणा जहाँ से फूटती है, उस ओर ध्यान नहीं देते। नैतिक मूल्यों की पुनः प्रतिस्थापना के लिए आवश्यक है कि जीवन की आवश्यकताओं को कम करने, सादा-सरल जीवन बिताने, त्याग व निःस्वार्थ वृत्ति को राष्ट्रीय संस्कृति का अभिन्न अंग माना जाए। समाज की एक मान्यता थी—चाहे जितने कष्ट आ जाएँ पर सत्य और प्रामाणिकता अखण्ड रहनी चाहिए। इस मान्यता ने सच्चे और प्रामाणिक लोगों की सृष्टि की। आज समाज की मान्यता में परिवर्तन हुआ है। जन-मानस बड़ी तेजी से ऐसा बनता जा रहा है कि सत्य और प्रामाणिकता खण्डित हों तो भले हों, सुख-सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। इस मान्यता ने सत्य और प्रामाणिकता का मूल्य कम कर दिया है। यदि हम नैतिक मूल्यों के ह्रास को बचना चाहते हैं तो हमें भौतिक मूल्यों के स्थान पर आध्यात्मिक मूल्यों को स्वीकार करना होगा और एक ऐसी जीवन-दृष्टि का निर्माण करना होगा जो कि मनुष्य में उच्च मूल्यों के विकास के साथ ही मानव-जाति को भय, संघर्ष, तनाव और अप्रामाणिकता से मुक्त कर सके। जैसा कि हमने पूर्व में देखा इन सबके मूल में मानसिक विषमता के रूप में आसक्ति ही मूलतत्त्व है अतः वैयक्तिक एवं सामाजिक विषमताओं को पूर्णतया समाप्त करने के लिए जिस जीवन-दृष्टि की आवश्यकता है वह है अनासक्त जीवन-दृष्टि।

अनासक्त जीवन-दृष्टि का निर्माण

जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का अन्तिम नैतिक सिद्धान्त कोई है तो वह अनासक्त जीवन-दृष्टि का निर्माण ही है। जैन दर्शन में राग के प्रहाण का, बौद्ध दर्शन में तृष्णा-क्षय का और गीता में आसक्ति के नाश का जो उपदेश हमें उपलब्ध होता है उसका लक्ष्य है अनासक्त जीवन-दृष्टि का निर्माण। जैन आचार दर्शन के समग्र नैतिक विधि निषेध राग के प्रहाण के लिए हैं। बौद्ध दर्शन में बुद्ध के सभी उपदेशों का अन्तिम हार्द है तृष्णा का क्षय और गीता में कृष्ण के उपदेश का सार है फलासक्ति का त्याग। इस प्रकार तीनों ही आचार दर्शनों का सार एवं उनकी अन्तिम फलश्रुति अनासक्त जीवन जीने की कला का विकास है। यही समग्र नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का सार है और नैतिक पूर्णता की अवस्था है। □

१. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० ६, १३-१४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org